आज के विज्ञान ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की तरंगों से भिन्न-भिन्न प्रकार के कई कार्य किये जा सकते हैं। छोटा-सा टी. वी. का रिमोट कन्ट्रोलर ही अपने में से अलग-अलग अगोचर तरंगों को निकालकर टी. वी. के रंग, आवाज, चैनल आदि-आदि बदल सकता है। ओसीलेटर यंत्र की अगोचर तरंगें समुद्र की चट्टान का पता दे सकती है, तरंगों से शरीर में ऑपरेशन किये जा सकते हैं इसी प्रकार साधक द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के जप द्वारा अपने में एकीकृत ऊर्जा से भिन्न-भिन्न मंत्रों में वर्णित कार्य किये जा सकते हैं। आवश्यकता है उन्हें विधिवत् करने की।

पूर्वाचार्यों ने अलग-अलग ध्वनियों से निकलने वाली तरंगों के अलग-अलग प्रभाव जाने और उसी के आधार पर अलग-अलग मंत्र, क्रियाएं आदि बनाये जिनके प्रभावों के बारे में कई बार देखने, सुनने और समाचार पत्रों में पढ़ने में आता है।

मौन जप की भाव धारा यदि हिंसा, कपट, प्रवंचना, प्रमाद, आलस्य की अर्थात् कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या के प्रभाव वाली रही तो व्यक्ति के शरीर से निकली तरंगों का वर्तुल काला, नीला, कबूतर के पंख के रंग जैसा बनेगा और उसका बाहरी प्रभाव भी उसी अनुरूप होगा। यदि मौन जप की भाव धारा शुभ, शुभकर्म, शुभ विचार की अथवा अरुण लेश्या, पीत लेश्या अथवा शुक्ल लेश्या के प्रभाव की रही तो उसके शरीर से निकली तरंगों का पर्तुल लाल, पीला, श्वेत बनेगा।

जप भाष्य से प्रारंभ किया जाकर उपांशु किया जाने के बाद में मानस जप किया जा सकता है। अभ्यास से उसे अजपा जप में भी परिवर्तित किया जा सकता है। इसके लिये श्रद्धा, संकल्प, दृढ़ता, एकाग्रता, तन्मयता, नियमितता, त्याग, परिश्रम विधिवत्ता आदि-आदि की आवश्यकता है।

जपयोग ध्यान व समाधि के लिये सोपान है। आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान से मुक्त कराकर धर्म ध्यान में प्रविष्ट करता है जो परिणाम में शुक्ल ध्यान का हेतु बनता है।

पता–
भानपुरा (म. प्र.) ४५८ ७७५

अपरिग्रह से द्वंद्व विसर्जन : समतावादी समाज रचना

–मुनि प्रकाशचन्द्र 'निर्भय'
(मालव केसरी, गुरुदेव श्री सौभाग्यमल जी म. सा. के शिष्य)

प्रवर्तमान इस वैज्ञानिक यन्त्र युग में विविध विकसित सुख-साधनों की जैसे-जैसे बढ़ोत्तरी होती जा रही है, वैसे-वैसे मनुष्य का जीवन अशान्ति/असन्तुष्टि/संघर्ष/द्वंद्व से भरता चला जा रहा है। अधिकाधिक सुविधा सम्पन्न साधनों की अविराम दौड़ में लगा मानव भन, क्षणभर को भी ठहर कर इसकी अन्तिम परिणति क्या होगी, इसके लिए सोचना/चिंतन करना नहीं चाहता है। संप्राप्त इंधन से अग्नि के समान मानव मन तृप्त होने की बजाय और अधिक अतृप्त बनकर जीवन विकास के स्थान पर जीवन विनाश के द्वार को खोल रहा है। मानव समाज में जहाँ एक ओर साधन सम्पन्न मानव वर्ग बढ़ रहा है, उससे भी अनेकगुण वर्धित दैनिक साधन से रहित मानव वर्ग बढ़ता जा रहा है। दो वर्ग में विभिन्न मानव समाज द्वंद्व/संघर्ष का कारण बन रहा है। क्योंकि एक ओर विपुल साधनों के ढेर पर बैठा मानव समाज स्वर्गीय सुख की सांसें से रहा है, तो दूसरी ओर साधन अभाव की अग्नि से पीड़ित मानव समाज दुःख की आहें भर रहा है। ऐसी स्थिति में मानव-मानव के बीच हिंसक संघर्ष/द्वंद्व होने लगे तो क्या आश्चर्य है? कुछ भी तो नहीं। तृष्णा की इस जाज्वल्यमान अग्नि से अहिंसा का प्रकाश नहीं अपितु हिंसा की ज्वाला ही भड़कती है। हिंसा के पीछे परिग्रह/तृष्णा का ही हाथ है और अहिंसा की पीठ पर अपरिग्रह/संविभाग का।

अहिंसा और अपरिग्रह–विश्ववंद्य, अहिंसा के अवतार, श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी ने पंच व्रतात्मक जिन धर्म का प्रतिपादन किया है–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सामान्य दृष्टि से ये सब भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं किन्तु विशेष दृष्टि से-चिंतन की मनोभूमि पर ये विलग नहीं, एक-दूसरे से संलग्न हैं। एक-दूसरे के प्रपूरक हैं। इनमें से न कोई एक समर्थ है और न कोई अन्य कमजोर। ये सबके सब समर्थ हैं, एक स्थान पर खड़े हैं। एक व्रत की उपेक्षा अन्य की उपेक्षा का कारण बन जाती है, एक के सम्पूर्ण परिपालन की अवस्था में सभी का आराधन हो जाता है। अहिंसा के विकास बिन्दु से प्रारंभ हुई जीवन यात्रा अपरिग्रह के शिखर पर पहुँचकर शोभायमान होती है, तो अपरिग्रह से उद्गमित जीवन यात्रा अहिंसा के विराट् सागर पर पूर्ण होती है। शेष तीन व्रत–सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य यात्रा को पूर्णतया गतिशील बनाये रखने में सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा और अपरिग्रह को लेकर जैनागमों और जैनदर्शन के अनेकानेक ग्रन्थों में जैन तत्व मनीषियों/प्राज्ञों/चिन्तकों/मननको ने विशद् चर्चा/ऊहापोह किया है। विभिन्न दृष्टिकोणों से इनको देखा/परखा और निष्कर्ष के रूप में यह दृष्टिगत किया है कि-'अहिंसा अपरिग्रह की पीठ पर खड़ी है और अपरिग्रह अहिंसा के बिना असंभव है। अर्थात् ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों पहलू की जीवन्तता अत्यावश्यक है।

सामान्यतया हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर अहिंसा पर बहुत-सी चर्चाएँ/संगोष्ठियाँ/सेमिनार आयोजित होते रहते हैं। जिनमें अहिंसा का सूक्ष्मतम चिंतन और स्वरूप उजागर किया जाता है। किन्तु अपरिग्रह को गौण या दरकिनार कर दिया जाता है। जबकि वस्तु सत्य यह है-'अहिंसा अपरिग्रह के बिना सफल हो नहीं सकती। हिंसा का जन्म ही परिग्रह की भूमि पर ही होता है। जैनागमों में प्रसिद्ध आगम सूत्रकृतांग सूत्र की चूर्णि में स्पष्ट उद्घोष है-'**आरम्भपूर्वको परिग्रहः**' (१-२-२) तथा मरणसमाधि नामक ग्रंथ में कहा है-'**अत्थोमूलं अणत्थाणं**'-(६०३) 'अर्थ (परिग्रह) अनर्थ का मूल कारण है।'

अहिंसक बनने की पहली शर्त है अपरिग्रही बनना। विश्व के समस्त धर्मों में जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है। जिसने त्यागी जीवन पर अधिकाधिक बल देते हुए '**त्यागीधर्म**' का मार्गदर्शन किया है। निवृत्ति प्रधान धर्म ही जैनधर्म है। त्याग की भूमि पर ही जैनधर्म खड़ा है। निवृत्ति का अर्थ है 'लौटना'-'किससे लौटना ?'-'अशुभ और परभाव से लौटना!' वस्तुतः त्याग के बिना अशुभ से लौटा नहीं जा सकता है। जैन साधक की क्रियाओं में '**प्रतिक्रमण**' एक महत्वपूर्ण क्रिया है। जिसमें आत्मा अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में स्थित होती है। जैसे अशुभ/अशुचियुक्त पदार्थ व्यक्ति अपने पास न तो रखना चाहता है, न ऐसे स्थान पर रूकना चाहता है जहाँ अशुचि-अशुभता हो। ठीक वैसे ही जैन धर्म का कथन है कि अशुभ विचारों के त्याग के बिना और निवृत्ति मार्ग ग्रहण किये बिना जीवन का निर्माण नहीं होता है। पदार्थ त्याग के साथ-साथ अशुभ विचारों का त्याग भी अत्यावश्यक है। क्योंकि विचारों में ही सबसे पहले शुभाशुभ/हिंसाहिंसा का जन्म होता है। विचारों की दूषितता ही हिंसा तथा परिग्रह को जन्म देती है।

अपरिग्रह और वीतराग-जैनधर्म और दर्शन के प्रणेता तीर्थंकर भगवान को माना जाता है। जिनके लिए एक विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह शब्द है-'वीतराग'। वीतराग शब्द दो शब्दों के योग से बना है = वीत + राग। अर्थात् बीत गया/चला गया है राग भाव जिसका, वह है वीतराग। राग का अर्थ है = ममता/आसक्ति/अपनत्व/जहाँ-जहाँ जिस-जिस व्यक्ति या वस्तु में ममता है, आसक्ति है, अपनापन है, वहाँ-वहाँ रागभाव है। और जहाँ-जहाँ रागभाव है, वहाँ-वहाँ हिंसा है। परिग्रह है। ममत्वहीन होना = अपरिग्रही होना। अपरिग्रही होना = वीतरागी होना। वीतरागी होना = अप्रमत्त/जागृत होना। अप्रमत्त -जागृत होना = अहिंसक होना। कहने का अर्थ यही है कि "जो ममत्व बुद्धि का परित्याग कर सकता है, वही ममत्व = परिग्रह का त्याग कर सकता है-'**जे ममाहयमहं जहाइ, से जहाइ ममाहयं।**' (आचारांग-१-२-६)।

मूर्च्छा ही परिग्रह-वस्तुतः वस्तु या व्यक्ति परिग्रह नहीं है। परिग्रह है रागभाव। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि '**मूर्च्छा परिग्रहः।**' जिसे आगम के इस सूत्र से समर्थित किया जा सकता है-'**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।**' (दश. ६/२१)। प्रथमरति के ग्रन्थ कर्ता ने भी यही बात कही है-'**अध्यात्मविदो मूर्च्छा परिग्रह वर्णयन्ति**'।

मूर्च्छा का अर्थ है विचारमूढ़ता। मूर्च्छा शब्द दिखने में बहुत छोटा शब्द है, किन्तु यह अपने भीतर समस्त संसार के द्वंद्व को समेटे हुए हैं। मद्यपान के बाद व्यक्ति की बेभान चेतना के समान ही विमूढ़ व्यक्ति की अवस्था होती है। विमूढ़ावस्था में व्यक्ति कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार से रहित हो जाता और विवेकविकल बन जाता है। विवेकविकल व्यक्ति संसार के महाजाल में बँधता हुआ बंधन से अनजान रहता है। क्योंकि वह परिग्रह को ही दुःख मुक्ति का साधन मान लेता है। 'पर' को 'स्व' मानना ही तो मूर्च्छा है। पर में रमणना कर्मजाल का पाश है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में यही कहा गया है-'**नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सव्व जीवाणं सव्व लोए**' (१-५) अर्थात् संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नहीं है।'

परिग्रह दुःखदायी-परिग्रह दुःख मुक्ति का उपाय नहीं है। अपितु यह तो दुःख के अथाह सागर में धकेलने वाला है। परन्तु ममत्व/मूर्च्छा टूटे बिना जागरण भाव नहीं होता। मूर्च्छा-प्रमत्तावस्था है। प्रमत्त व्यक्ति विषयासक्त होता है-'**जे प्रमत्ते गुणट्ठिए**'-आचा. १-१-४।" और विषयों में लीन व्यक्ति जिनसे अर्थात् भोगों या वस्तुओं में सुख की अभिलाषा रखते हैं, वे वस्तुतः सुख के हेतु नहीं है-'**जेण सिया तेण णो सिया**'-आचा. १-२.४।" प्रमादी व्यक्ति संसार में कभी भी सुख का मार्ग नहीं पकड़ पाता है। वह तो सदा दुःख का मार्ग ही ग्रहण करता है और फिर सदा पग-पग पर भयभीत बना रहता है-'**सव्वओ पमत्तस्स भयं-१-३-४।**' प्रमत्त जीव जागरण के अभाव में परिग्रह को नहीं छोड़ता है। जैसे-जैसे वह संग्रहवत्ति में आसक्त होता है वैसे-वैसे वह संसार में अपने प्रति वैर को बढ़ाता जाता है-'**परिग्गह निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई**-सूत्र. १-९-३।' और स्वयंमेव दुःखी होता है। आचारांग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर फरमाते है-'**आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुम चेव सल्लनमाहट्टु।**'-(१-२-४) अर्थात् हे धीर पुरुष! आशा, तृष्णा और स्वच्छंदता का त्याग कर। तू स्वयं ही इन काँटों को मन में रखकर दुःखी हो रहा है। "नदी के वेग की तरह परिग्रह भी क्या-क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्लेश पैदा नहीं करता है?–किं न क्लेश करः परिग्रह नदी पूरः प्रवृद्धिंगतः–(सिन्दूर प्रकरण ४१)'' सूत्रकृतांग सूत्र की टीका में तो यहाँ तक कहा है आचार्य श्रीलांकाचार्य ने कि–''परिग्रह (अज्ञानियों के लिए तो क्या) बुद्धिमानों के लिए भी मगर की तरह क्लेश एवं विनाश का कारण है–'प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो ग्राह हव क्लेशाय नाशाय च'–१-१-१।''

अध्यात्म चर्चा में बुद्धिमान उसे नहीं कहा जाता है जो विद्वान है, अपितु उसे कहा जाता है जो अप्रमत्त=अपरिग्रही हो। प्रमत्त व्यक्ति साधनों के अभाव को ही दुःख का कारण मानता है। इसलिए उसकी दृष्टि साधनों की प्राप्ति पर टिकी रहती है। परन्तु वह साधन को पाकर भी तृप्त नहीं होता है। होता भी है तो क्षणिक। जैसे भूख लगी–भोजन ग्रहण किया। भोजन ग्रहण के समय तृप्ति का अनुभव तो अवश्य होता है, पर वह कितने समय तक टिकता है? प्यास लगी, पानी पीया, तृप्ति हुई, पर कितनी देर तक? मकान का अभाव, बनाया खरीदा, अच्छा लगा, कितनी देर? कार खरीदने की इच्छा हुई, खरीदी, उपभोग किया, फिर बाद में अतृप्ति और जागी। ऊब गये कार में बैठे-बैठे। वास्तव में दुनियाँ के समस्त साधन=परिग्रह वास्तविक सुख के हेतु हैं ही नहीं। ये सुखाभास देते हैं, उत्तेजना देते हैं जो सुखद लगती है। परन्तु उत्तेजना सुखद हो नहीं सकती। मकान-दुकान-स्त्री-पूत्र-पद-पैसा-प्रतिष्ठा आदि सभी परिग्रह के ही प्रकार हैं, जिनमें ममत्व/मूर्च्छा दुःखदायी ही है।

परिग्रह के भेद–परिग्रह के दो भेद किए गये हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह में क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दुपद, चौपद और कुविय धातु आदि चल-अचल सम्पत्ति को गिना है, और आभ्यन्तर परिग्रह में–

'मिच्छत्तवेदरागा, तहेव हासादिक या य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चउदस अब्भंतरा गंथा॥''

'मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ।'

दोनों प्रकार का परिग्रह चेतना में विमूढ़ता पैदा करता है। बाह्याभ्यंतर दोनों रूप से निवृत्ति=त्याग किये बिना परिग्रह समाप्त नहीं होता है। परिग्रह का शाब्दिक अर्थ इसी बात का दर्शन कराता है कि चारों ओर से ग्रहण करना-पकड़ना। जो किसी भी वस्तु या व्यक्ति को समग्र रूप से आसक्त भाव से ग्रहण करता है, वह परिग्रही होता है। और अपरिग्रही आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त होता हुआ बाह्य परिग्रह से भी मुक्त हो जाता है। आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त होना अति आवश्यक है, क्योंकि बाह्य परिग्रह का त्याग सहज-सरल है किन्तु भीतरी परिग्रह का त्याग मुश्किल है। दरिद्री/भिखारी/साधनहीन व्यक्ति बाह्य परिग्रह से अवश्य मुक्त दिखाई देते हैं किन्तु भीतरी परिग्रह से मुक्त नहीं हैं। इसीलिए उन्हें कोई अपरिग्रही नहीं कहता। पशु-पक्षी आदि जीव भी बाह्य परिग्रह से रहित हैं, फिर भी वे अपरिग्रही नहीं कहे जा सकते हैं। आभ्यंतर परिग्रह से निर्बन्ध हुए बिना बाह्य परिग्रह से मुक्त होना न होना बराबर है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–'जे सिया सन्निहिकाये, गिही पव्वइए न से।' ६-१२ जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह साधु नहीं किन्तु (साधु वेष में) गृहस्थ ही है।' साधक बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्यागी होता है। यदि वह बाह्य परिग्रह तो त्यागे किन्तु आभ्यंतर परिग्रह न त्यागे तो वह साधना पथ पर चलकर भी लक्ष्य को नहीं पा सकताहै।

आभ्यन्तर परिग्रह : तृष्णा–आभ्यन्तर परिग्रह का सामान्य अर्थ है विषय-कषाय के प्रति ममत्व बुद्धि। ''मनुष्य का मन अनेक चित्त वाला है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति ही करना चाहता है, एक तरह से छलनी को जल से भरना चाहता है–'अणेग चित्ता खल अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए' (आचा. १-३-२)। कषाय और विषय से प्रेरित मनुष्य आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त नहीं हो पाता है। क्योंकि ये इच्छाओं को प्रेरित करते रहते हैं। और सागर की लहरों के समान प्रतिपल/ प्रतिसमय हजारों, लाखों इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं–नष्ट होती रहती हैं। उत्तरांध्ययन सूत्र में निर्देश है कि 'इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥९-४७॥ इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। जिनका कभी पार नहीं पाया जा सकता है। उत्पन्न होना और नष्ट होना इच्छाओं की नियति है। किन्तु मानव इन्हें पूर्ण करना चाहता है। पर वे कभी पूर्ण नहीं होती हैं। कहा गया है–

'कसिणं पि जो इमं लोभं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इह दुप्पूरए इमे आया॥१६॥'

धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता–इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है।'–क्योंकि ''ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है। और लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है।–जहा लाहो, तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई' उत्त. ८/१७/'' अग्नि और तृष्णा में एक ही बात का अन्तर है। अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु तृष्णा रूपी अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता है–

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ॥

–ऋषि भा. ३/१०॥

श्रमण प्रभु महावीर ने तृष्णा को भयंकर फल देने वाली विष की वेल कहा है–'भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीम फलोदया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥उत्त. ८३/४४॥ फिर भी मनुष्य परिग्रह में सुख मानता है। किन्तु मनीषी विद्वान कहते हैं कि 'रोटी, पानी, कपड़ा, घर, आभूषण, स्त्री, सन्तान एवं हन्डियों के इष्ट शब्दादि विषयों की अभिलाषा में व्याकुल बने हुए संसारी जीव स्वस्थता का स्वाद कैसे ले सकते हैं?–

प्रथममशन पान प्राप्ति वाञ्छादिहस्ता,
स्तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृति व्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्यावाप्ति मिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्ताः स्वस्थतां क्वानुवीरन्॥

–शान्त सुधारस-कारुण्य भावना।

बाह्याभ्यंतर परिग्रह संसार के समस्त दुःखों से बचाने में असमर्थ है। क्योंकि जो कार्य जिसका नहीं है, वह उस कार्य को कैसे कर सकता है? परिग्रह तो संसार में द्वंद्व कराने वाला है। वह द्वंद्व से मुक्त करने में असक्षम है। तृष्णा के वशीभूत बनी दुनिया 'जर-जोरू और जमीन' के लिए अनेकों बार रक्त-रंजित हुई है।

परिग्रह के ऐतिहासिक उदाहरण–जैन इतिहास में मगधेश कौणिक और चेटक का विराट् युद्ध प्रसिद्ध है। जिसमें लाखों की सैना का घमासान हुआ। इस भीषण नर संग्राम के पीछे एक ही कारण था–हार और हाथी को हस्तगत करना। मगध सम्राट श्रेणिक के राजपुत्रों में जब राज्य का बटवारा हुआ, तब एक बेशकीमती हार और हस्तिराज हाथी हल-विहल भाइयों को प्राप्त हुआ। कौणिक की पत्नी ने जब हार-हाथी को देखा, तब वह दोनों पर मोहित हो गयी। उसने मगधेश कौणिक से कहा–'हार-हाथी के बिना यह राज्य सूना है।' बस कौणिक के मन में हार-हाथी का परिग्रह जाग उठा और जिसका परिणाम लाखों की संख्या में नर-संहार के रूप में आया।

बौद्ध साहित्य में कलिंग युद्ध प्रसिद्ध है जो सम्राट अशोक ने लड़ा था। कलिंग युद्ध राज्य लिप्सा का ही एक उदाहरण है।

महाभारत भी राज्यलिप्सा को प्रस्तुत करता है।

रामायण स्त्री परिग्रह का संकेत करती है।

सम्राट औरंगजेब द्वारा अपने पिता शाहजहाँ को कैदखाने में बंद करना और भाइयों का वध करना राज्य-परिग्रह का ही तो प्रतिफल है।

सिकन्दर की दिक्विजय के पीछे धनलिप्सा और जगत सम्राट बनने की भावना ही तो थी।

मगधेश कौणिक ने भी राज्य लोभ से अपने जनक सम्राट श्रेणिक को काराग्रह में बंद कर दिया था।

कंस ने भी अपने पिता उग्रसेन को इसी राज्यलिप्सा के कारण कारावास में बन्द किया था व स्वयं राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ था।

और भी ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास गगन पर प्राप्त हो सकते हैं। इसी परिग्रह के कारण भाई-भाई में, पिता-पुत्र में, पति-पत्नी में द्वन्द्व होते देखे गए हैं। घर के टुकड़े भी इसी तृष्णा की बढ़ती हुई बाढ़ के कारण होते हैं। हरे-भरे घर उजड़ते हुए देखे जा सकते हैं। इस परिग्रह ने क्या नहीं किया? **''अर्थमनर्थम भावयनित्यम्।''** विनोबा ने कहा है यह अर्थ अनर्थ की खान है। समस्त पापों का मूल है। या यों कहें कि यही अर्थ या लोभ पाप का बाप है। लोभी व्यक्ति अन्धा ही होता है। उसे अपना भला-बुरा भी दिखाई नहीं देता तो वह देश, समाज व राष्ट्र का क्या उत्थान करेगा?

अनासक्त-अनिच्छक = अपरिग्रही–परिग्रह की इतनी चर्चा के बाद अब अपरिग्रह पर भी एक दृष्टि निक्षेप करें। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इतिहास प्रसिद्ध ग्रंथ 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' में कहा है–'**सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।** अर्थात् सभी पदार्थों पर से आसक्ति हटा लेना ही अपरिग्रह है।' जहाँ ममत्व/आसक्ति परिग्रह का हेतु है, वहाँ निमर्मत्व/अनासक्ति अपरिग्रह का। ममत्वशील प्राणी संसार में भटकते हैं–'**ममाइ लुंपइ वाले।**' सूत्र. १-१-१-४। और आचारांग सूत्र में कहा गया है कि 'अधिक मिलने पर भी संग्रह न करे और परिग्रह वृत्ति से अपने को दूर रखे–'**बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्सा॥** १-१-५१ परिग्रह कर्म बन्ध/द्वन्द्व/संघर्ष का कारण है और अपरिग्रह मुक्ति का।

मनुष्य को जीवन जीने के लिए, जीवन निर्वाह की साधन सामग्री अवश्य चाहिए। इससे भी इन्कार किया ही नहीं जा सकता है। ऐसे में कुछ परिग्रह की उपस्थित अवश्य हो ही जाती है। अतः क्या करे? इस प्रश्न का उत्तर देतें हुए विशेषावश्यक सूत्र के भाष्यकार कहते हैं कि–'**गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा, मुच्छाहि निच्छयओ।** २५७३ 'निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा है तो परिग्रह है और यदि मूर्च्छा नहीं है तो अपरिग्रह।'+सूत्रपाहुड में कहा है–'**अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल अत्थेण**–२७ ग्राह्य वस्तु में से भी अल्प (आवश्यकतानुसार) ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे समुद्र के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प जल ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी वृत्ति वाला साधक/मनुष्य अपरिग्रही कहलाता है। आवश्यकतानुसार अपरिग्रह भाव से ग्राह्य वस्तु का ग्रहण अपरिग्रह की कोटि में ही आता है। जैसाकि कहा है–'**अपरिग्गहसंवुडेण लोगंमि बिहरियव्वं॥** प्रश्न २/३ 'अपने को अपरिग्रह भावना से संवृत बनाकर लोक में विचरण करना चाहिए।'

अपरिग्रह अर्थात् अनिच्छाभाव का जागरण/अनिच्छा से इच्छा को जीता जा सकता है। और सुख पाया जा सकता है–'**तम्हा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छामणिच्छाए जिणित्ता सुहमेधति ऋषिभा. ४०/१। इच्छा व आकांक्षाओं से रहित व्यक्ति फिर चाहे वह 'भूमि पर सोये, भिक्षा का भोजन करे, पुराने/जीर्ण कपड़े पहने और वन में रहे वह निस्पृही चक्रवर्ती से अधिक सुख भोगता है–

भूशय्या भैक्ष्यमशनं, जीर्णवासो वनं गृहम्।
तथापि निःस्पृहस्याहो! चक्रिणोप्यधिकंसुखम्॥ज्ञानसार॥

अपरिग्रह = जागरण–मूर्च्छा परिग्रह है। जागरण अपरिग्रह है। जागरण कहते हैं अप्रमत्त अवस्था को। अप्रमत्त व्यक्ति दुःख निवारण का उपाय बाह्य जगत में नहीं देखकर अपने आपमें/भीतर देखता है। जो अपने भीतर में खोजता है उसे मार्ग अवश्य मिलता है मुक्ति का। जो भी जीवनगत दुःख है, वह कहीं बाहर से, किसी अन्य से हमारे पास नहीं आया, अपितु वह अपने अन्दर से ही प्रकट हुआ है। और अन्दर से ही दुःख-मुक्ति का उपाय हस्तगत होगा। जीवनगत साधनों के अभाव की पूर्ति करना दुःख के बाह्य मुक्ति का हेतु है तो अभाव क्यों है? हम कारण को ही नष्ट करना आन्तरिक मुक्ति है। परिग्रहावस्था में/प्रमत्तावस्था में अभाव की पूर्ति की जाती है, जबकि अपरिग्रहावस्था/अप्रमत्तावस्था में मूल कारण को ही निर्मूल किया जाता है। प्रमत्त व्यक्ति साधन की उपलब्धि में ही दुःख के निवारण का हेतु मानकर साधनों की प्राप्ति में तत्पर बनता है, किन्तु वह सोच नहीं पाता है कि साधन की उपलब्धि दु-खवृद्धि का कारण भी हो सकती है। जैसे-जैसे यह भ्रमणा टूटती है कि बाह्य परिग्रह सुख का कारण है, वैसे-वैसे अप्रमत्त स्थिति बनती जाती है। भ्रमणा का टूटना ही अपरिग्रह है– जागरण है।

अपरिग्रह से द्वन्द्व विसर्जन–परिग्रह-अपरिग्रह/मूर्च्छा-जागरण की इतनी लम्बी चर्चा के बाद अब हमें यह चिन्तन करना है कि अपरिग्रह-जागरण भाव क्या कार्य करता है? इसका क्या निष्कर्ष है? अपरिग्रह की स्थिति जब मानव जीवन में प्रकट होती है तब उसका चिंतन सद्गामी होता है और सच्चिंतन के प्रकाश में व्यक्ति यह अनुभव/महसूस करने लग जाता है कि वस्तुतः परिग्रह ही मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष/द्वन्द्व का जनक है। क्योंकि परिग्रह ममत्व और आसक्तभाव को पैदा करने वाले हैं। जब-जब भी व्यक्ति के मन में ममत्व-आसक्त भाव उठता है, तब-तब निश्चित संघर्ष-द्वन्द्व भी पैदा होता ही है। चाहे फिर बाह्य परिग्रह की स्थिति हो या आभ्यन्तर परिग्रह की। हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि ममत्व-आसक्तशील स्वयं दुःख की अनुभूति करता हुआ अन्य परिवारादि को भी दुःख में ढकेलने का प्रयास करता है। बाह्य परिग्रह की आसक्ति ही मानव-मानव में, परिवार में, समाज और राष्ट्र में विग्रह पैदा करती है। हर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र चाहता है कि बस में ही प्रमुख रहूँ, मेरी ही सत्ता हो, मेरा ही वर्चस्व हो, स्वामित्व हो और शेष सर्व हमसे नीचे स्थित रहें। प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की इस भावना से ही द्वन्द्व/संघर्ष की परिस्थितियां बनी हैं। और इस संघर्ष/द्वन्द्व को वाधित करने में अगर कोई समर्थ है, तो वह है 'अपरिग्रह'।

अपरिग्रह = अनासक्त भाव से जीवन जीने वाला न स्वयं दुःखी होता है और न किसी को दुःख देता है। अपरिग्रही तो 'मित्ती मे सव्व भूएसु' इस आगमिक सूत्र को ही अपने जीवन का आदर्श मानता हैं। अपरिग्रह मेरे-तेरे के द्वन्द्व से ऊपर उठकर तेरा-मेरा, मेरा-तेरा, न मेरा, न तेरा और न मेरा और न मेरा इस स्वर्णाक्षर सूत्र से प्रवर्तित होता है। जब इतनी विशाल-विराट् भावना हृदय की भावभूमि पर अंकुरित होने लगती है तब मानव, मानव का भेद नहीं होता और चारों ओर समरसता का प्रवाह बहने लगता है। अपरिग्रही ही अकिंचन जीवन जीता हुआ एक ऐसे अविरल संदेश को प्रचारित करता है कि जो पूर्ण मानव समाज की संरचना में सहायक बनता है। जैन धर्म के २४ ही तीर्थंकरों का जीवन अपरिग्रहता की एक बेजोड़ और आदर्श मिशाल है। जिन्होंने स्वयं अपरिग्रही जीवन जीकर मानव समाज को जागृत किया है कि प्राणी-प्राणी में कोई अन्तर नहीं है। सब सुख और शांति के चाहक हैं। सबका अपना अधिकार है कि वे सुखी जीवन जीएँ। जैन तीर्थंकरों के इस जीवन्त जीवन संदेश से ही इस तथ्य की पुष्टि होती है–अपरिग्रह ही प्रेम का निर्माण करता है और द्वन्द्व का विसर्जन। जीवन जीने की आवश्यक वस्तु परिग्रह नहीं है अपितु अनावश्यक/अन्य के हक की वस्तुओं का वृथा संग्रह ही परिग्रह है। वृथा और अनावश्यक परिग्रह का विसर्जन ही अपरिग्रह का आधार बनता हुआ मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व का विनाशक बनता है। जब साधनों का संविभाग होगा तब द्वन्द्व/संघर्ष की उत्पत्ति कैसे होगी? संविभाग करना सुख-साधनों का–बाह्य परिग्रह का, सुख का राजमार्ग है। उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण भगवान महावीर प्रभु ने यही स्पष्ट घोष किया है–

'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।'

अर्थात् स्वयं के साधनों और अधिकारों का संविभाग करे। इसके बिना मुक्ति नहीं।

अपरिग्रह और सर्वोदय–चरम तीर्थंकर वर्धमान महावीर प्रभु द्वारा प्रवर्तित 'अपरिग्रह' का स्वरूप ही सर्वोदय सिद्धान्त का आधारभूत रहा है। भारतवर्ष के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने सर्वोदय सिद्धान्त की स्थापना की। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है 'सबका उदय !' कोई भी पिछड़ा न रहे, सबको अपना अधिकार मिलना चाहिए। महात्मा गाँधी के इस सर्वोदय शब्द का बीज भी जैन दर्शन के 'संविभाग' शब्द में या अपरिग्रह शब्द में मिलता है। यदि इसी शब्द को ढूँढेंगे तो वह जैनाचार्य समन्तभद्र के द्वारा प्रयुक्त किया गया है सर्वप्रथम–

'सर्वापदान्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्त्तमान इस सर्वोदय सिद्धान्त को विनोबा भावे ने आगे बढ़ाया और भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान, समयदान, जीवनदानादि द्वारा सामाजिक विषमता को मिटाने का प्रयास किया गया। अपरिग्रह भी विषमता को मिटाकर समता की स्थापना करता है।

अपरिग्रह और समाजवाद–पदार्थ उपभोग के लिए है, संग्रह के लिए नहीं। उपभोग के लिए कोई मनाही नहीं है। किन्तु जब पदार्थों का संग्रह व्यक्ति द्वारा आवश्यकता से अधिक किया जाता है तब समाज में विषमता की स्थिति बनती है। और जब विषमता की स्थिति सीमातिक्रान्त हो जाती है तब संघर्ष और हिंसा का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे में मानव समाज दो विभागों में बंट जाता है–अमीर और गरीब। शोषक और शोषित।

अमीर-गरीब/शोषक-शोषित का संघर्ष युग-युगान्तर से चला आ रहा है और इसको मिटाने के लिए 'समाजवाद' की स्थापना भी की गयी। समाजवाद सिद्धान्त रूस से गतिशील हुआ। जिसमें समान हक की बात कही गयी और शोषित अपने हक की प्राप्ति के लिए संघर्ष के रास्ते हिंसा के मैदान में आ डटे। इसकी परिणति यह हुई कि समाजवाद एक हिंसक आन्दोलन में परिवर्तित हो गया। समाजवाद की परिकल्पना का मूल भी 'अपरिग्रहवाद' ही रहा है। किन्तु जिस मार्ग का अवलम्बन समाजवाद ने लिया, उस मार्ग का 'अपरिग्रहवाद' निषेध करता है। अपरिग्रहवाद अहिंसक राह से समाजवाद की मंजिल पाने का निर्देश करता है।

समतावादी समाज रचना–पूँजीपति और शोषितों का जो संघर्ष है, वह है पदार्थों के परिग्रह को लेकर। एक ओर जीवन के आवश्यक साधनों का ढेर लगता चला गया और दूसरी ओर अभावों की खाई निर्मित होती गयी। ऐसी स्थिति में जो संघर्ष की स्थिति बनती है, उससे शांति नहीं अपितु अशांति का ही निर्माण होता है। द्वंद्व/संघर्ष की इस स्थिति में भी मनुष्य को अपना विवेक नहीं खोना चाहिए। विवेक दीपक से विषमता का अंधकार नष्ट करके समता का प्रकाश फैलाना चाहिए। विवेक विकलता में विषमता नष्ट नहीं होती है अपितु और अधिक बढ़ती ही है। किन्तु जब समता का आंचल थाम लिया जाता है तब शांति की वर्षा होने लगती है। समता/समभाव अपरिग्रहवाद की पहली शर्त है क्योंकि समभाव के बिना 'अपरिग्रहवाद' फल नहीं सकता। अनासक्त स्थिति समभाव से ही संभव है। अपरिग्रह समतावाद की स्थापना करता है। समतावादी समाज की संरचना से ही अपरिग्रहवाद फलता-फूलता है और मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व/संघर्ष का विसर्जन होकर आनंद की बहार का सर्जन होता है।

● ●

मानव-संस्कृति के विकास में श्रमण संस्कृति (जैन धारा) की भूमिका

–डॉ. रवीन्द्र जैन डी. लिट्

प्रास्ताविक–मानव जाति का संस्कृत (परिष्कृत) भावात्मक एवं रूपात्मक कृतिपुंज संस्कृति है। संस्कृति चिर विकासशील एवं अविभाज्य है। संस्कृति को सम्पूर्ण मानव जाति की समन्वयात्मकता एवं अखण्डता के फलक पर रखकर ही पूर्णतया समझा जा सकता है। सम्पूर्ण मानव जाति एक अविभाज्य इकाई है; उसे धर्म, भूमि और जाति आदि की संकीर्ण सीमा में रखकर आंशिक एवं भ्रामक रूप से ही समझा जा सकता है। अल्वर्ट आइन्स्टाइन का कथन है कि, 'संस्कृति का पौधा अत्यन्त सुकुमार होता है। अनेक प्रयत्नों और सावधानियों के बाद ही वह किसी समाज में फूलता-फलता है। उसके लिए व्यक्ति का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान और जाति का अभिमान सबको तिलांजलि देनी पड़ती है। संस्कृति के अन्तर्गत मानव जाति का समग्र जीवन गर्भित है, परन्तु प्रमुख रूप से उसकी भावनात्मक एकता, नैतिक एवं कलात्मक जिजीविषा को स्थान दिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति मानव को ऊँचा उठाने वाली कृतियों का समन्वय है।''

संस्कृति की परिभाषा–प्रायः अंग्रेजी भाषा के कल्चर शब्द के पर्याय के रूप में संस्कृति शब्द समझा जाता है। जिस प्रकार एग्रीकल्चर अपनी भावात्मक एकता को प्राप्त कर कल्चर बन गया; अथवा कल्चर अपनी स्थूलता में एग्रीकल्चर बन गया, हमारी भौतिक जिजीविषा भी अन्ततः परिष्कृत होकर कल्चर बनी।

संस्कृति शब्द में भी कृषि या कृष्टि निहित है। बंगाल में कृष्टि शब्द का प्रयोग आज भी कृषि के लिए होता है। आशय यह है कि पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में जो आत्यन्तिक स्थिति है वह एक ही है; वे मूलतः एक हैं। कालिक प्रभाव से पश्चिम ने यथार्थ, उपयोगिता एवं इहलौकिकता को अधिक महत्त्व दिया तो पौर्वात्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org